

RUSSIA WORKSHOP – JULY 2019
Kabīr session 4: miscellaneous
ṬĪKĀS

We provide ṭīkās for each poem where available (2 or 1 or none) from these 2 sources:

1. जयदेव सिंह, वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय: खण्ड २, सबद: भावार्थबोधिनी व्याख्या सहित। विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी १९८१
2. माताप्रसाद गुप्त (संपादक), कबीर-ग्रंथावली। प्रामाणिक प्रकाशन, आगरा १९६९.

Note: Often there are variations (usually but not always minor) between the texts these authors use and those in our ms. And we don't always agree with their interpretations. But overall their ṭīkās are very helpful to us.

J 32 - S32#40

माताप्रसाद गुप्त, पृ० १७१-१७२

अर्थ — कथन करने, वक्तृता करने और श्रवण करने [मात्र] से [किसी में] अन्तर नहीं आता है, जो आत्म का विचार करता है, वही ज्ञानी होता है। जैसे अग्नि से पवन का मेल (संयोग) होता है [तो अग्नि और भी अधिक प्रज्वलित होती है], उसी प्रकार ये (कथन, वक्तृता और श्रवण) भी चंचल और चपल बुद्धि के खेल (विलास) हैं। [शरीर के] नव द्वारों तथा [१७२] दशम द्वार (ब्रह्मरंध्र) को जान कर, ऐ ज्ञानी, तू ज्ञान का विचार कर। देह तो मिट्टी है और उसमें पवन (प्राण) बोलता है; ऐ ज्ञानी, विचार कर कि मृत कौन होता है। मृत हुई (मरती) सुरति (शारीरिक अनुभूतियों की स्मृति) है और मृत हुआ (मरता) व्यर्थ का अहंकार है; वह नहीं मृत हुआ (मरता) है जो बोलने वाला (जीव) है। जिस कारण से लोग तीर्थों के तट (पास) जाते हैं, वह रत्न और [बहुमूल्य] पदार्थ घट (शरीर) में ही है। पंडित पढ़-पढ़ कर वेद की व्याख्या करता है, किन्तु जो वस्तु (तत्त्व) [शरीर के] भीतर है, उसको वह नहीं जानता है। मैं मृत नहीं हुआ (होता हूँ), मेरी बला (काया) ही मरी (मृत होती है); वह नहीं मरा (मरता है) जो [मुझमें] समा रहा है। कबीर कहता है कि गुरु ने ब्रह्म-दर्शन करा दिया है, इसलिए वह (कबीर) मृत होता या जाता दृष्टि में नहीं आया (आता है)।

J11 - S11#15

जयदेव सिंह, पृ० ६३-६५

शब्दार्थ — अचंभौ = आश्चर्य। सिंघ = सिंह (फ्र० अ०) जीव। गाई = गाय (फ्र० अ०) इन्द्रिय। पूत = पुत्र (फ्र० अ०) साधक। माई (फ्र० अ०) = माता (फ्र० अ०) साधना। चेला = शिष्य (फ्र० अ०) साधक। गुरु = (फ्र० अ०) अन्तरात्मा। मछरी = मछली (फ्र० अ०) कुण्डलिनी। तरवरि = वृक्ष (फ्र० अ०) सुषुम्ना। ब्याई = जन्म देना। कुत्ता = (फ्र० अ०) विषय भोग की बाह्य प्रवृत्ति। बिल्लाई = (फ्र० अ०) अन्तर्मुखी प्रवृत्ति। बैलहि = (फ्र० अ०) अविवेक। गौनि = अनाज का थैला (फ्र० अ०) मन। घरि = घर में (फ्र० अ०) चैतन्य में। घोरे = घोड़े (फ्र० अ०) इन्द्रियाँ। भैंस = (फ्र० अ०) शम। साखा = (फ्र० अ०) नाडी-मंडल। मूल = (फ्र० अ०) ब्रह्मरंध्र, चैतन्य। जड = मूल (फ्र० अ०) चैतन्य, ब्रह्मरंध्र। फूल = (फ्र० अ०) ज्ञान, मोक्ष, आनंद।

संदर्भ — इस पद में ज्ञानोत्तर दशा का वर्णन है। जब आत्म-ज्ञान हो जाता है, तब मानव के भीतर क्या परिवर्तन होता है, उस स्थिति का यहाँ उल्लेख किया गया है।

व्याख्या — (वाच्यार्थ) कबीर कहते हैं कि हे भाई! मैंने एक आश्चर्य देखा कि सिंह खड़ा होकर गाय को चरा रहा है। पहले पुत्र हुआ और पीछे माता हुई। गुरु शिष्य का चरण स्पर्श करता है। जल में रहने वाली मछली वृक्ष के ऊपर बच्चा देती है। बिल्ली कुत्ते को उठा ले गई। अनाज की थैली बैल को छोड़कर घर वापस आ गई। भैंस घोड़े पर चढ़कर चराने जा रही है। वृक्ष की शाखा नीचे की ओर है और जड़ ऊपर है। जड़ में तरह-तरह के फूल लगे हुए हैं। कबीरदास कहते हैं कि जो इस पद के रहस्य को समझता है, उसे तीनों लोकों के ज्ञान का साक्षात्कार हो जाता है।

(प्रतीकार्थ) — सामान्यतः जीव इन्द्रियों के वश में रहता है, पर सिद्धि प्राप्त होने पर इन्द्रियाँ जीव के वश में आ जाती हैं, जीव का उन पर नियन्त्रण हो जाता है। वह जैसा चाहता है, इन्द्रियों की प्रवृत्ति उधर ही होती है। यही सिंह का गाय को चराना है। पहले साधक होता है, तब साधना होती है और शिष्य का साधक जब पूर्ण रूप से अन्तर्मुखी हो जाता है, विषयों से विरक्त हो जाता है, तब अन्तरात्मा उसे अपनी ओर खींचता है, आकृष्ट करता है। पहले साधक अन्तरात्मा के साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील था, किन्तु सिद्धि के निकट पहुँचने पर स्वयं अन्तरात्मा उसकी ओर उन्मुख होता है, उसे अपनी ओर लाने का प्रयत्न करता है। यही गुरु का शिष्य के पैर लगाना है। कबीर ने एक साखी में भी कहा है —

कबीर मन मिरतक भया, दुरबल भया सरीर ।

पाछे लागे हरि फिरैं, कहैं कबीर कबीर ॥

मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी उत्थित होकर सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र (गगन मंडल) में पहुँचकर ज्ञान को जन्म देती है। विषयोन्मुख बहिर्मुखी प्रवृत्तियों (कुत्ता) का अन्तर्मुखी प्रवृत्ति (बिलाई) अपहरण कर लेती है। सामान्यतः मन अविवेक के वश में रहता है, किन्तु सिद्धावस्था में मन (गौनी) अविवेक (बैल) को चैतन्य (घर) की ओर ले जाता है। साधारणतः इन्द्रियों की प्रवृत्ति में रजस् तत्व की प्रधानता रहती है। वे क्षोभ के वश में कार्य करती हैं। सिद्धावस्था में इन्द्रियों (घोड़े) पर क्षोभ के स्थान पर शम (भैंस) का अधिकार हो जाता है और उसके निर्देशन में इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। मानव का ऐसा निर्माण हुआ है कि ऊपर मूल (ब्रह्मरन्ध्र, मस्तिष्क, चैतन्य) रहता है और नीचे शाखाएँ (नाडी-मण्डल)। सिद्धावस्था में इस मूल में ज्ञान, मोक्ष या आनंद के पुष्प खिलते हैं। कबीरदास कहते हैं कि सिद्धावस्था के इस मर्म को जो जान लेता है, उसे तीनों लोकों के ज्ञान का साक्षात्कार हो जाता है।

टिप्पणी — मूल — स्थूल शरीर-विज्ञान की दृष्टि से मूल का तात्पर्य 'मस्तिष्क' है, जिससे सारी नाडियाँ नीचे की ओर चलती हैं। सूक्ष्म देह-विज्ञान की दृष्टि से मूल 'ब्रह्मरन्ध्र' है और इडा-पिंगला-सुषुम्ना आदि नाडियाँ 'शाखाएँ' हैं। तात्विक दृष्टि से चैतन्य सब का मूल है और स्थूल अभिव्यक्तियाँ उसकी शाखाएँ हैं। गीता में भी कहा गया है —

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ (१५/१)

माताप्रसाद गुप्त. पृ० १४९-१५०

अर्थ — मैंने एक अचंभा (आश्चर्य का व्यापार) देखा कि सिंह खड़ा-खड़ा गाय को [खा जाने के स्थान पर] चरा रहा है, [माता से पुत्र होने के स्थान पर] पहले पुत्र हुआ तदनंतर माता हुई, [चेले के गुरु के पैरों में लगने के स्थान पर] गुरु ही चेले के पैरों में लग रहा है, जल की मछली [जल के स्थान पर] तरुवर पर अण्डे-बच्चे दे रही है, [बिडाल के मुर्गे को खाने के स्थान पर] मुर्गा ही बिडाल को पकड़ कर खा रहा है, [बैल के गून — उस बारदाने को जिसमें नाज भर कर उसकी पीठ पर लादा जाता है — को डालने के स्थान पर] गून ही बैल को डाल कर घर आ रही है, [इसके स्थान पर कि कुत्ता बिल्ली को पकड़ ले जाता,] बिल्ली कुत्ते को पकड़ कर ले जा रही है, [इसके स्थान पर कि मूल नीचे होती और शाखाएं ऊपर होतीं,] शाखाएं तल में हैं और मूल ऊपर है, [डालों में फल लगने के स्थान पर] जड़ में बहुतेरे भांति के फल लग रहे हैं ! कबीर कहता है कि जो इस पद को बूझ लेगा, उसको तीनों भुवन सूझ जाएंगे। यह पद भी उलटवासी का है। सिंह ज्ञान है, गाय काया है; पुत्र जीव है, माता माया है; गुरु अभिमान है, चेला सहज भाव है; मछली पवन (प्राण) है, जल मूलाधार चक्र है; बिडाल मनोविकार है, मुर्गा ज्ञान है; बैल देह है, गून हृदय है; कुत्ता अज्ञान है, बिडाली मति है; उलटा वृक्ष मेरुदण्ड है, उसकी जड़ में लगे हुए बहुतेरे प्रकार के फूल सहस्रार के दिव्य अनुभव हैं। (MPG gives पाठान्तर not copied here.)

J39 – S39#47

जयदेव सिंह, पृ० ३३५-३३६

शब्दार्थ — तारि = भवसागर से पार करके । पसाउ = प्रसाद, कृपा । तत्त = तत्त्व । तारन = उद्धार करने की बात । तरन = उद्धार होने की बात ।

संदर्भ — कबीर ने इस पद में बताया है कि वास्तविक मुक्ति वैकुण्ठ नहीं है । वास्तविक मुक्ति है – सबमें परमात्म-तत्व का साक्षात्कार, विश्व में परमात्म-चेतना ।

व्याख्या — लोक में यह विश्वास है कि भव-सागर पार करके मुक्त जीव वैकुण्ठ में जाएगा । कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! आप कृपा करके यह बताइए कि भव-सागर पार कराकर आप मुझे कहाँ ले जाएँगे ? आप अपनी कृपा से जिस वैकुण्ठ को देंगे, वह कहाँ है और कैसा है ?

यदि आप मुझे अपने से पृथक् रखते हैं तो फिर मुक्ति क्या होगी ? यह आप मुझे समझाइए । जब यह सत्य है कि आप सर्वव्यापी हैं, आप सबके भीतर विद्यमान हैं, तब फिर मुक्ति देकर अन्यत्र वैकुण्ठ नामक स्थान में जाने की भ्रान्ति क्यों फैलाई जाती है ? उद्धारक और उद्धार की बात की सार्थकता तभी तक है, जब तक परमतत्व के रहस्य का ज्ञान नहीं होता । वस्तुतः मुक्ति तो वह स्थिति है जिसमें राम का दर्शन सभी में हो, जिसमें परमात्मा और जीवात्मा के एकत्व की अनुभूति हो । हे प्रभु ! मैंने यह साक्षात्कार कर लिया है, सबमें आपको देख लिया है । अब मेरा मन पूर्ण रूप से आश्वस्त हो गया है कि यही वास्तविक मुक्ति है । वैकुण्ठ आदि अन्यत्र जाना मुक्ति नहीं है । कबीर ने अन्यत्र भी कहा है – “अनजाने को नरक सरग है, जाने को कछु नाहीं ।”

माताप्रसाद गुप्त, पृ० १७७

अर्थ — हे राम, मुझे (भव-जल से) तार कर कहाँ ले जाओगे ? भला बताओ तो कि वह वैकुण्ठ कैसा है जो तुम प्रसाद (कृपा) करके मुझे दोगे । यदि तुम मेरे जीव को दो (अपने से भिन्न) जानते हो, तो मुझे [उस स्थिति से] मुक्ति [का उपाय] बताओ, और यदि तुम एक और सर्वथा एक होकर सब में राम रहे हो, तो फिर क्यों मुझे भ्रमाते (भटकाते) हो ? जब तक तारने और तिरने की बात कही जाती है, तब तक तत्व का ज्ञान नहीं हुआ । एक ही राम को उसने सभी में देखा, इसलिए कबीर कहता है कि [उस तत्व में] उसका मन मान गया है । (MPG gives पाठान्तर not copied here.)

J30 – S30#37

माताप्रसाद गुप्त, पृ० १६८

अर्थ — पंडित लोगो, उस कुछ (तत्त्व) का विचार करो जिसके कोई रूप, रेखा तथा वर्ण नहीं है । जब पिंड (शरीर) उत्पन्न होता है, तब प्राण उसमें कहाँ से आता है और मृत [का] जीव जा कर कहाँ समाता है ? इंद्रियां कहाँ विश्राम करती हैं, और वह [जीव] कहाँ गया (जाता है) जो “राम” कहता था (है) ? जहाँ न पांच तत्त्व है, न शब्द है, और न स्वाद है, (जो इन सबसे परे है), जो अलेख (अलक्ष्य-अदर्शनीय), निरंजन (निर्लिप्त) और विद्या-वादादि से परे है, कबीर कहता है, मेरा मन जब उसी मन में समाया, तब मैंने आगम निगम (धर्म-ग्रंथादि) को झूठ करके जाना ।

J19 – S19#24

माताप्रसाद गुप्त पृ० १५५

अर्थ — अब मेरे घट (शरीर) में रामराय प्रकट हुए हैं, जिससे मेरा शरीर सोने की भांति शोधित हो गया है । जैसे सोने को सुनार कसौटी पर कस कर लेता है, उसी प्रकार मेरा सारा तनु शोधित हो गया है । उत्पन्न होते-होते बहुत उत्पादित हो गई है, और जब मन स्थिर हो गया, तभी स्थिति (स्थिरता) प्राप्त हुई । [राम को] बाहर खोजते-खोजते जन्म गंवा दिया, किन्तु जब मन को [विपरीत-करणी मुद्रा के द्वारा] उन्मन (इंद्रियों की ओर जाने से रोक कर ब्रह्मरंध्र की ओर प्रेरित) कर ध्यान किया, तब उसे घट के भीतर ही पाया । परिचय के बिना शरीर काँच या कथीर (कस्तीर- रांगा) था, और वही [आत्मा राम से] परिचय के बाद कंचन (खरा सोना) हो गया ।

J71 - S72#95

जयदेव सिंह, पृ० २५३

शब्दार्थ — तत्त = तत्व । मस्टि = मौन । झखमारी (मु०) = व्यर्थ में समय नष्ट करना ।

संदर्भ — कबीर का उपदेश है कि साधक में वाचालता नहीं होनी चाहिए । तर्क और विवाद से तत्त्व कभी जाना नहीं जा सकता ।

व्याख्या — हे भाई ! साधना में वाचालता के विषय में क्या कहा जाय? व्यर्थ की बकवास से तत्त्व नष्ट हो जाता है । अधिक बोलने से चित्त में केवल विकार बढ़ता है और बिना बोले भी काम नहीं चलता । इसलिए संतों से तो विचार-विमर्श करने से लाभ ही होगा । किन्तु यदि असंत मिले तो मौन ही रहना चाहिए । ज्ञानी से बात करने में लाभ होता है, किन्तु मूर्ख से बात करना व्यर्थ में समय नष्ट करना है । वही लोग अधिक वाचाल होते हैं, जिन्हें पूर्ण ज्ञान नहीं होता । जैसे आधा भरा घड़ा आवाज करता है, किन्तु पूर्ण घट ध्वनि नहीं करता, ऐसे ही जो पूर्ण ज्ञानी हैं, वे व्यर्थ की बक-बक नहीं करते ।

माताप्रसाद गुप्त पृ० १८४

अर्थ — बोलना (बोलने के किए), ऐ भाई क्या (क्यों) कहा जाए, जबकि बोलते-बोलते तत्त्व नष्ट होता है ? बोलते-बोलते विकार बढ़ जाता है, किन्तु बिना बोले किस प्रकार विचार हो ? [इसलिए] संत मिले तो ही कुछ कहा जाए, और असंत मिले तो मष्ट (चुप) कर रहा जाए । ज्ञानी से बोलने पर वह हितकारी होता है, मूर्ख से बोलने पर वह झख मारना (अपनी शक्ति को बरबाद करना) होता है । कबीर कहता है कि अधभरा घड़ा ही बोलता (आवाज करता) है; यदि वह भरा होता है तो वह मुख से नहीं बोलता है । (MPG gives पाठान्तर not copied here.)

* * * * *

J5 - S5#5

जयदेव सिंह, पृ० १२२-१२४

शब्दार्थ — नाइक = नायक, स्वामी । बीठुल = विट्टल, कृष्ण । औसेरि = चिंतन, बेचैनी, उचाट । आस = आशा, कामना । संमि = बराबर । सारंग श्रीरंग = सारंगपाणि विष्णु । पद = स्थिति । किंवा = अथवा । जे = यदि । अहटि = दुःखित होकर । होइम = होने वाला । जुगुति = युक्ति, उपाय । सार = निचोड़ । भुगुति = भोग । मुकुति = मोक्ष ।

व्याख्या — हे गोकुल के स्वामी विट्टल (कृष्ण) ! मेरा हृदय तुममें अनुरक्त है । जब से तुमसे वियुक्त होकर मैं जीव-भाव में आया हूँ, तब से न जाने कितने युग बीत गए । वियोग के कारण मुझे तुम्हारी याद में बड़ी बेचैनी रहती है ।

जब से जीव इस शरीर में आया, तब से वह तुमसे वियुक्त ही नहीं हो गया, अपितु तुम्हारे प्रति विद्यमान स्वाभाविक स्नेह को भी भुला दिया और वह स्नेह संसार के प्रति उन्मुख हो गया । किंतु उसके पुनर्जागरण की आशा बनी हुई है । मेरे बंधन का अन्य कोई कारण नहीं है । मैंने स्वयं ही अपने अज्ञान और राग-द्वेष से अपने को बंधन में डाल रखा है । परंतु अब तुम्हारे प्रति प्रेम जग गया है और मेरे नेत्र तुम्हारे दर्शन के लिए प्यासे हैं ।

हे जीव ! तू अपने और पराए को सम रूप से देख, तभी तुझको सब कुछ एक समान प्रतीत होगा । कपट और अहंता को छोड़कर जब तू समत्व भाव की स्थिति को पहुँचेगा, तभी तू प्रभु से मिलने का पात्र बनेगा । इस स्थिति को पहुँचने के लिए तुझे न तो कहीं तीर्थादि जाने की आवश्यकता है और न कष्ट-साध्य साधनाओं का भार सिर पर लादने की आवश्यकता है । इसके लिए तो केवल सारंगपाणि विष्णु, जो रस-स्वरूप है (रसो वै सः), उनका अपनी रसना से आस्वादन कर और उन्हें हृदय में धारण कर । इसी साधन से तुझे सिद्धि प्राप्त होगी अथवा दूसरे शब्दों में जो होने वाला है, वह होकर रहेगा । यदि तुझमें प्रारंभ में दृढ ज्ञान नहीं उत्पन्न होता तो दुःखी और निराश होने की आवश्यकता नहीं है ।

सामान्यतः एक उपाय से एक ही वस्तु की प्राप्ति होती है – भोग या योग । किंतु राम नाम की सिद्धि होने पर – भोग और योग – दोनों फल प्राप्त होंगे ।

तुम लोग यह न समझो कि यह पद केवल गाने के आनंद के लिए बनाया गया है । इसमें अपने अनुभव से प्राप्त ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन किया गया है । इसमें आत्म-ज्ञान के साधन का सार समझाया गया है । प्रभु के चरण-कमल में चित्त को [१२३] केन्द्रित कर राम-नाम का निरंतर जप करो । कबीर कहते हैं कि इससे भुक्ति और मुक्ति दोनों की प्राप्ति होगी, इसमें तृणमात्र संदेह नहीं है ।

टिप्पणी — (१) आपा पर संमि चीन्हिए ………

एकत्व-बुद्धि सम्बंधी यही भाव ईशावास्योपनिषद् में सुन्दर ढंग से इस प्रकार व्यक्त किया गया है –

यस्तु सर्वाणि भूतानि
आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं
ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि
आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक
एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

“जो निरन्तर आत्मा में ही समस्त प्राणियों और समस्त प्राणियों में आत्मा को देखता है, वह किसी से जुगुप्सा नहीं करता ।”

“जिसकी दृष्टि में आत्मा ही सर्वभूत हो गया है, उस निरंतर एकत्व देखने वाले विज्ञानी पुरुष को मोह कहाँ, शोक कहाँ ।”

(२) रसनां रसहिं विचारिए ………

आँख, कान आदि इन्द्रियों द्वारा हम जो कुछ ग्रहण करते हैं, उसमें ग्राहक और ग्राह्य का भेद बना रहता है । किंतु रसना द्वारा जिस रस का आस्वादन करते हैं, वह हमारे शरीर का अंग बन जाता है, उसे हम आत्मसात् कर लेते हैं । यहाँ प्रेम रूपी रसना द्वारा राम-रस को आत्मसात् करने का संकेत है ।

(३) इन दोनिउँ फल पाइए ………

समस्त सांसारिक भोगों में इन्द्रियाँ किसी विषय के प्रति आकृष्ट होती हैं । इसी को भोग कहते हैं । किंतु यह वास्तविक भोग नहीं है, क्योंकि यहाँ हम विवश होकर उनके प्रति खिंच जाते हैं । अतएव हम स्वयं भोग्य बन जाते हैं । वास्तविक भोग वही है जहाँ विषय के द्वारा खिंच जाने की विवशता नहीं रहती । यह स्थिति राम-रस की तृप्ति से ही प्राप्त होती है । इसीलिए कबीर ने कहा है कि वहाँ योग और भोग दोनों फल प्राप्त होते हैं । राम-रस से युक्त होना योग है और विवशता के बिना आनंद की प्राप्ति भोग है ।

[१२४](४) तुम्ह जिनि जानौ गीत है ………

इन पंक्तियों के द्वारा कबीर ने यह स्पष्ट किया है कि उनका काव्य मनोरंजन के लिए नहीं है । उसका उद्देश्य है – लोक मंगल । उन्होंने यह भी बताया है कि उनकी कविता निजी अनुभूति का निचोड़ है । वह कल्पना-प्रसूत नहीं है ।

माताप्रसाद गुप्त, पृ० २४३-२४४

अर्थ — ऐ गोकुल-नायक मीठुला (बीठल – विष्णु), मेरा मन तुझमें लग गया है; तुझे विछुटे बहुत दिन हो गए हैं, और मुझे तेरी औसेरी (दुश्चिन्ता – चिन्तापूर्ण स्मृति) आती है । यह गृह (शरीर) कोटि कर्मों का रचा हुआ (उनका परिणाम) है, इसलिए [तुम्हारे] गए हुए स्नेह की आशा (प्रतीक्षा) है; आत्मा ने स्वतः आप (आत्मा) को [उस कर्मों के गृह में] बंधा दिया है, और मेरे दो नेत्र [तुम्हारे दर्शनों के] प्यासे मर रहे हैं । आत्म तथा पर को समान पहचाना जाए, और समस्त जगत् समान दीख पड़ने लगे, तो इस पद (स्थिति) में कपट तथा अभिमान को त्याग कर नरहरि को प्राप्त किया जा सकता है । कहीं भी (तीर्थादिक को) चल कर न जाइए और न सिर पर [कर्मों का] भार लीजिए, शार्गधर (राम) तथा श्रीरंग (विष्णु) [जैसे हरि के] नामों को रसना के रस से (के साथ) विचारिए ।

इस साधन से ही सिद्धि प्राप्त की जाती है, अन्यथा वह [प्राप्त] हो या न हो; यदि दृढ ज्ञान न भी उत्पन्न [होता] हो, तो [इस साधन से] हट कर कोई न रहे । [सामान्यतः] एक युक्ति से एक ही पदार्थ मिलता है, या तो योग और या तो भोग; किन्तु राम नाम के सिद्धि-योग से इन दोनों फलों को प्राप्त किया जा सकता है । प्रेम भक्ति ऐसी कीजिए कि मुख में चन्द्र [नाडी] अमृत-वर्षा करे; [फिर] आत्म से आत्म (परमात्मा) को विचारा जाए, तब कितना आनंद हो ! तुम यह न समझो कि यह गीत [मात्र] है, यह निजु (ठीक-ठीक) ब्रह्म-विचार है । [इसमें] केवल (ब्रह्म) के आत्म-साधना-सार को कह कर समझाया गया है । राम का नाम तथा गुन गाकर उनके चरणों में चित्त को लगाइए, तो कबीर कहता है इसमें संशय नहीं है कि भक्ति तथा मुक्ति गति प्राप्त कीजिए ।